



17. कृषाण राज्यव्यवस्था

जिस पृष्ठभूमि में कृषाण राज्यव्यवस्था की रचना हुई उसके दो मूलभूत तथ्य थे। एक तो या व्यापार का विस्तार, और दूसरा, विदेशी आधिपत्य से स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली समस्याएं। कृषाण राज्य अरब सागर से लेकर गंगा तक फैला हुआ था, और भारतीय व्यापारी मध्य एशिया के कृषाण साम्राज्य से होकर गुजरने वाले मार्ग से रेशम का व्यापार करके खूब लाभ कमाते थे। भारत से बड़े पैमाने पर स्वर्णमुद्राएं सर्वप्रथम कृषाण राजाओं ने ही जारी कीं, जो बहुत हद तक इसलिए संभव हो सका कि इन दिनों भारत को मध्य एशिया से काफी मात्रा में सोना मिल रहा था। किंतु इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि कृषाणों ने सबसे अधिक मात्रा में तांबे के सिक्के जारी किए जो इस बात का द्योतक है कि अर्थव्यवस्था मजबूत हो रही थी और फलस्वरूप कारीगरों और व्यापारियों का महत्त्व बढ़ रहा था।

यों तो मौर्य शासनव्यवस्था में भी विदेशी प्रभाव दूर करने का प्रयास किया गया है, किंतु कृषाण राज्यव्यवस्था के सदर्भ में यह प्रयत्न शायद अधिक फलप्रद सिद्ध होगा। सीथियन लोग अपने साथ चीन और मध्य एशिया से राजत्व तथा प्रशासन संबंधी नए विचार लेकर आए थे, जिनका उन्होंने भारत की नई मिट्टी में प्रयोग किया। विदेशी शासक होने के नाते उनके लिए आवश्यक था कि बड़े-बड़े राजकीय पदों पर अपने देशभाइयों को रखें तथा नवविजित क्षेत्रों के शासन के लिए किसी न किसी प्रकार के सामंती संगठन का विकास करें, जिसमें सैनिक तत्व को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत की राजनीतिक एकता के विघटन का जो सिलसिला शुरू हुआ वह दो सौ वर्षों से अधिक समय तक चलता रहा। अंत में कृषाणों ने उस एकता को अंशतः पुनः प्रतिष्ठित किया और प्रायः एक सदी से अधिक काल तक कायम रखा। किंतु कृषाणों के राजनीतिक संगठन में कठोर केंद्रीकरण की वह प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती जो मौर्यों के शासनतंत्र की विशेषता थी। कृषाण राज्यव्यवस्था के अध्ययन के मुख्य स्रोत अभिलेख, और किसी सीमा तक, सिक्के हैं। किंतु इनसे उन बहुत सारे राज्याधिकारियों का कोई सकेत नहीं मिलता जिनका उल्लेख अशोक के पुरालेखों और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में हुआ है। मौर्य तथा कृषाण शासकों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि कृषाणों ने

बड़ी-बड़ी आडंबरपूर्ण उपाधिया धारण की। भारत में कृपाण शासन के संस्थापक कुजूल कर्डाफिगेस का आरम्भ एक छोटे सरदार (यवग) के रूप में हुआ, किंतु कालांतर से जब कृपाण शक्ति की अभिवृद्धि हुई तो यह, और आगे चलकर, उसके उत्तराधिकारी महाराज और राजातिराज¹-जैसी उपाधियाँ धारण करने लगे। इन दोनों उपाधियों का प्रयोग ईस्वी सन की पहली सदी के पूर्वार्ध² के पार्थियन³ राजा गोडोफर्नास और अजीलीसिस ने भी किया था, यद्यपि अपने उत्तराधिकारी राजवंश कृपाणों की मूलना में उनकी शक्ति बहुत सीमित थी। पुरालेखों को लें तो महाराज उपाधि का प्राचीनतम उल्लेख खारबेल के पहली शताब्दी ई. पू. के हाथिगुफा अभिलेख में मिलता है, जिसमें उसके पहले पूर्वज महामेघवाहन का वर्णन महाराज⁴ के रूप में हुआ है, यद्यपि गिक्वों में इस शब्द का प्रयोग इससे पहले के बाल के भारतीय-यूनानी राजाओं के लिए भी हुआ है। लेकिन राजातिराज उपाधि का रूप भारतीय होने हुए भी उसका मूल विदेशी था, और स्पष्टतः कृपाणों ने इसे अपने पूर्ववर्ती पार्थियन शासकों से ग्रहण किया था। इस उपाधि को धारण करनेवाला प्रथम पार्थियन राजा द्वितीयमिथरीडेटस (123-88 ई. पू.) था।⁵ 88 ई. पू. के बाद इसका अनुकरण शायद शक सरदार मीद्म ने किया,⁶ और यदाकदा पार्थियन राजा भी इसका उपयोग करते रहे। 'कालकाचार्य कथानक' नामक जैन ग्रथ में, जिसमें भारत में शकों के प्रथम आगमन के बारे में प्रामाणिक अनुश्रुतियाँ दी गई प्रतीत होती हैं,⁷ एक शक साहि के लिए राजातिराज के प्राकृत रूप 'रयाहिगय' का प्रयोग हुआ है।⁸ चूँकि शकों और खामकर पार्थियनों जैसे छोटे-छोटे राजा भी अपने को राजातिराज और महाराज कहते थे, इसलिए इन उपाधियों को विगी महत्तर राजगत्ता का द्योतक नहीं मानना चाहिए। यह बात कृपाणों पर भी लागू होती है। निस्संदेह, अशोक का साम्राज्य कृपाणों से बहुत बड़ा था और उसकी गत्ता भी उनसे बहुत अधिक मृदु थी, फिर भी यह राजा की उपाधि से ही संतुष्ट रहा। इसलिए बड़ी-बड़ी कृपाण उपाधियाँ—जैसा कि कुछ विद्वानों का विचार है⁹—राजगत्ता के उत्कर्ष की नहीं, बरन विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति की द्योतक हैं। ऐसी उपाधियों ने ऐसे छोटे-छोटे राजाओं और सरदारों के अस्तित्व का संकेत मिलता है जिनकी हैगियत सर्वोच्च गत्ताधारी राजा के सामंतों की थी, क्योंकि यह सर्वोच्च शासक अन्य राजाओं के सदृश में महाराज कहा जाता है। इसी प्रकार अपने राज्य के अन्य अधीनस्थ राजाओं के मुकाबले वह राजातिराज, अर्थात् राजाओं का राजा, कहलाता है। अतएव इन उपाधियों से सामंती या सरदारी गंगठन का संकेत मिलता है, जिसमें अनेक करदाता राज्य या सरदार शामिल थे।

वर्निष्क गमूह के राजाओं को हम अपने नाम के पूर्व सामान्यतः पाहि उपाधि जोड़ते देखते हैं।¹⁰ वर्निष्क और उसके उत्तराधिकारियों के मुद्रालेखों में हम इस उपाधि को 'शाओनानोशाओ' के रूप में देखते हैं।¹¹ इस उपाधि के संस्कृत रूप

पाहाणुसाहि का प्रयाग ममद्रगुप्त की प्रसिद्ध प्रयाग-प्रशस्ति में मिलता है। यद्यपि यह उपाधि मूलतः इरानी घोट से निकली, लेकिन हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते कि यह कैसे-कैसे पास पहुँची। मुद्रालेखों में यह उपाधि शुद्ध खोतानी शक भाषा में अंकित है,¹² और 'कालकाचार्यकथानक' में इसके प्राकृत रूप 'साहानुसाहि' के प्रयोग का श्रेय शकों को दिया गया है। बहुत संभव है कि कृपाणो ने इसे उन शकों से ग्रहण किया जिन्हें परास्त करके उन्होंने मोहेजोदरो के निकटवर्ती क्षेत्रों में अपनी सत्ता प्रतिष्ठित की थी। उपर्युक्त जैन ग्रंथ में जिस संदर्भ में इस उपाधि का उल्लेख किया गया है उससे इस उपाधि के प्रशासनिक तथा राजनीतिक महत्त्व पर काफी प्रकाश पड़ता है। प्रसंग यह है कि उज्जयिनी के राजा गर्दीभल्ल ने जैन गुरु कालक की भगिनी की अपहरण कर लिया। बहन को मुक्त कराने के लिए 'कालक शक कुल' में गया। वहाँ सामंतगण 'साहि' और उन सामंतों का प्रभु (सामताहिवै) 'साहाणुसाहि' कहलाते थे। कालक एक साहि के यहाँ ठहरा, लेकिन चूँकि यह साहि तथा पचानवे अन्य साहि 'साहाणुसाहि' के कोपभाजन बन गए, इसलिए कालक ने उन्हें सौराष्ट्र चलने को प्रेरित किया। फलतः वहाँ पहुँचकर उन्होंने उस क्षेत्र को आपस में बाँट लिया। पतझड़ आने पर जैन गुरु इन सबको लेकर उज्जयिनी पहुँचे। वहाँ गर्दीभल्ल को बन्दी बना लिया गया और एक साहि रायाहिराय (अधिराज) के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया। इस प्रकार शक शासक वंश की स्थापना हुई। इस कथा से शक राज्यव्यवस्था की तीन विशिष्ट बातों का पता चलता है, और जान पड़ता है, कृपाणों ने इन तीनों को अपना लिया। एक तो यह कि साहि ऐसे स्वतंत्र राजे नहीं थे जिन पर बाद में किसी ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, बल्कि वे ऐसे सरदार थे जिनकी हैसियत अपने प्रभु अर्थात् सामताहिवै के सामंतों की थी। दूसरे, साहि लोग भी उसी जनजाति के थे जिसका पाहाणुसाहि था, और इसलिए उसकी स्थिति बराबरी वालों के बीच प्रथम व्यक्ति की थी। तीसरे, जैसा कि ऐसे सबंध में स्वाभाविक ही था, अपने प्रभु के प्रति पाहियों की निष्ठा का आधार बहुत कमजोर था और असतोष का तनिक सा कारण मिलते ही वे अपनी प्रभुभक्ति को तिलाजलि देकर अपना भाग्य अन्यत्र आजमाने को तत्पर हो जा सकते थे। अपने प्रभु के प्रति पाहियों के दायित्वों की कुछ जानकारी हमें प्राप्त है। 90 ईस्वी में यूचियों ने अपने प्रतिनिधि साई को, जो एम सिलबा लेवी के अनुसार एक पाहि था, पान-चाऊ पर आक्रमण करने भेजा, लेकिन पान-चाऊ ने उसे पराजित कर दिया।¹³ इससे प्रकट होता है कि अपने प्रभु की सैनिक सेवा करना पाहि का प्रमुख कर्तव्य था। दुर्भाग्यवश, उपलब्ध सामग्री में न तो छोटे राजाओं, पाहियों आदि के नामों का कहीं कोई उल्लेख मिलता है, और न अपने कृपाण प्रभुओं के साथ उनके संबंधों के स्वरूप का कोई संकेत मिलता है। किंतु बाहर से आकर अपना शासन स्थापित

करनेवाले मुट्ठीभर विजेताओं के सरदारी संगठन का सहारा लेना सही मालूम पड़ता है।

कृषाण राजनीतिक व्यवस्था के सामंती स्वरूप का अनुमान कुछ अन्य उपाधियों से भी लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, द्वितीय वेम कडफिसेस द्वारा प्रयुक्त 'महीश्वर'¹⁶ उपाधि का अर्थ है। महाप्रभु। 'सर्वलोक-ईश्वर'¹⁷ का मतलब है समस्त ससार का प्रभु। यद्यपि कनिष्कसमूह के कृषाण शासकों ने ये उपाधियाँ धारण नहीं कीं, लेकिन इनमें अतर्निहित भावना भिन्न नहीं थी। ध्यातव्य है कि कृषाण शासकों द्वारा सामान्यतः प्रयुक्त राजातिराज तथा पाहि जैसी उपाधियाँ देशी शासकों ने धारण नहीं की, लेकिन कडफिसेस समूह के राजाओं की उपाधियों के साथ जुड़े ईश्वर शब्द का गुप्तोत्तर राजाओं के बीच आम चलन हो गया। वे अपने को परमेश्वर, अर्थात् परमप्रभु कहने लगे।

कृषाणों पर रोम की शासनप्रणाली का भी प्रभाव पड़ा, क्योंकि कनिष्क ने हमकैजर¹⁸ की उपाधि धारण की। संभवतः इसके पीछे उसका मंतव्य रोम की शक्ति को चुनौती देने का था। किंतु यह सस्ती नकल भर थी। रोम की प्रातीय शासनप्रणाली का, जो रोमवालों की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी, कृषाणों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कृषाण लोग मौर्यों अथवा रोमवालों के ढंग पर किसी सुदृढ़ प्रातीय व्यवस्था का विकास नहीं कर पाए। अपने राज्य के एक बहुत बड़े क्षेत्र पर शायद उनका कोई प्रत्यक्ष शासन और नियंत्रण नहीं था। प्रथम कनिष्क के शासनकाल के तीसरे वर्ष (81 ई.)¹⁹ के सारनाथ बौद्ध प्रतिमा अभिलेख में वनस्पर और खरपल्लान नामक दो क्षत्रपों का उल्लेख हुआ है, जो कनिष्क के साम्राज्य के सबसे पूर्वी प्रांत, अर्थात् बनारस के आसपास के क्षेत्रों में शासन करते थे।²⁰ इससे पूर्ववर्ती काल में उत्तर भारत के कुछ हिस्सों में द्वैध राजत्व का चलन था, यह तो कतिपय यूनानी तथा जैन स्रोतों से मालूम होता है; लेकिन लगता है, कृषाणों ने एक ही प्रांत में दो शासक रखने की विचित्र प्रथा भी प्रारंभ कर दी। स्पष्ट ही इसमें प्रयोजन यह था कि दोनों क्षत्रप एक-दूसरे पर अकुश रखने का काम करें। लेकिन शायद वनस्पर और खरपल्लान बहुत अधिक दिनों तक समान स्थिति में नहीं रह पाए। एक अन्य अभिलेख में वनस्पर का उल्लेख तो क्षत्रप के रूप में और खरपल्लान का महाक्षत्रप²¹ के रूप में किया गया है। यह परिवर्तन कैसे हुआ, कहना कठिन है। दोनों क्षत्रपों की हैसियत बराबरी की हो, इसकी अपेक्षा यह बात सामंती प्रणाली के श्रेणिबद्ध संगठन में शायद अधिक सगत थी कि दोनों में से एक की स्थिति अधिपति की और दूसरे की अधीन की हो। महाक्षत्रप, को भरसक क्षत्रप का प्रभु बना दिया गया और क्षत्रप को प्रशासन कार्य में उसका सहायक बनाया गया। दोनों के नामों से स्पष्ट है कि वे विदेशी थे। एक अनुमान यह है कि वे मथुरा

के महाक्षत्रप योडास के वंशज थे, जिनकी पूर्वस्थिति कुषाणों ने कायम रखी।²² यदि हम इस अनुमान को स्वीकार कर लें तो इसका मतलब यह होगा कि कुषाण राजा प्रत्यक्ष रूप से क्षत्रपों की नियुक्ति भी नहीं करते थे, बल्कि उन्हें विजित सरदारों के रूप में अपने अपने स्थानों पर पुनः प्रतिष्ठित कर देते थे। संभव है, कभी-कभी ऐसा भी होता रहा हो, और कभी-कभी क्षत्रपों की प्रत्यक्ष नियुक्ति भी की जाती रही हो। कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि सामान्यतः राज परिवार के सदस्य ही इस पद पर नियुक्त किए जाते थे। उदाहरण के लिए, एक महाराज का पुत्र, शायद पश्चिमोत्तर भारत में, क्षत्रप नियुक्त किया गया।²³ कुषाण साम्राज्य में कितने प्रांत थे, यह हमें ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। अनुमान लगाया गया है कि साम्राज्य पाच, या शायद सात, प्रांतों में बंटा हुआ था।²⁴ लेकिन हमें यह नहीं मालूम है कि यह विभाजन कब तक और कितनी निमित्तता से काम करता रहा। इसी तरह इन प्रांतों को प्रशासन प्रथा की दृष्टि से सुपरिभाषित वर्गों में बांटना आसान नहीं है।

अभिलेखों से क्षत्रपों के कार्यों के बारे में पूरी जानकारी नहीं मिलती। व्यक्तियों के रूप में वे, वनस्पर और खरपल्लान की तरह, बुद्ध की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करते थे, या क्षत्रप वैश्वसि की तरह,²⁵ बुद्ध के बहुत-से स्मारक स्थापित करते थे। वैश्वसि नामक क्षत्रप के विषय में हमें इतना और मालूम है कि स्मारकों के निमित्त ही उसने एक अनुदान अधीक्षक की भी नियुक्ति की थी। लेकिन सिवाय इसके, प्रांतीय शासक के रूप में क्षत्रप के असैनिक कार्यों पर अभिलेखों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। पार्थियन तथा कुषाण क्षत्रपों से पहले के अखामनी क्षत्रपों के कार्यों से²⁶ कोई निष्कर्ष निकालना उचित न होगा, क्योंकि कुषाणों और ईरानी अखामनी वंश के सम्राटों के बीच पाच सदियों का अंतराल पड़ता है। तथापि, पेशावर क्षेत्र में प्राप्त एक परवर्ती खरोष्ठी अभिलेख में एक क्षत्रप के लिए प्रयुक्त ग्रामस्वामी²⁷ पदनाम से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि क्षत्रप शायद गावों से राज-कर वसूल करता था और ग्रामप्रधान तथा राजा के बीच की कड़ी का काम करता था²⁸। जिस प्रकार बहुत-से लोग कुषाण महाराजों के आध्यात्मिक कल्याण के निमित्त धार्मिक अनुदान देकर उन्हें सम्मानित करते थे,²⁹ उसी प्रकार एक नवदीक्षित व्यक्ति ने उक्त क्षत्रप के सम्मान में एक 'सघाराम' तथा 'स्तूप' का निर्माण करवा कर उसके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की।³⁰ इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह क्षत्रप व्यक्तिगत रूप से काफी प्रभावशाली था और एक तरह से अपने महाराज से प्रायः स्वतंत्र था।

कुषाणों के अभिलेखों आदि से उनके सैनिक संगठन की ठीक जानकारी नहीं मिलती। उनके अभिलेखों में दंडनायक शब्द का, विभिन्न रूपों में, काफी उपयोग हुआ है। इससे कुषाण राज्यव्यवस्था में सैनिक तत्व के महत्त्व का संकेत मिलता

है। लेकिन, कृपाणो ने भारत की पारंपरिक चतुरंगी सेना के स्वरूप को कहा तब परिवर्तित किया, इसका पता अब तक नहीं चल पाया है। इसमें संदेह नहीं कि वे बड़े कुशल घुड़सवार थे। वे रकाबो का भी उपयोग करते थे, जिसका चलन जैसा कि समकालीन मूर्तियों से प्रकट होता है—सीधियों ने आरंभ किया। पर यह रकाब लोह या अन्य किसी धातु के बने नहीं थे बल्कि रस्सी के बने होते थे। इस काल में भारत चीन को छोड़े भेजता था, और हान राजाओं के एक कानून के अनुसार घुड़सवारों के लिए पतलून पहनना आवश्यक था। इस नियम का पालन भारतीय कृपाण भी करते थे। मथुरा में प्राप्त कनिष्क की मूर्ति से स्पष्ट है कि बूट और पतलून कृपाण घुड़सवारों के आवश्यक पहनावे थे और ये बहुत अच्छे धनुर्धर भी होते थे। दुर्भाग्यवश हमें न तो कृपाण सेना के संख्या बल के बारे में कोई जानकारी प्राप्त है और न उसके संगठन तथा वितरण के संबंध में कुछ मालूम है।

क्षत्रप अपनी सत्ता का प्रयोग दंडनायक या महादंडनायक कहे जानेवाले अर्धसैनिक अधिकारियों के माध्यम से करते थे। जान पड़ता है, कृपाणराज्यव्यवस्था में दंडनायकों और महादंडनायकों का स्थान काफी महत्वपूर्ण था। कनिष्क के राजत्वकाल में लल नामक एक दंडनायक का उल्लेख मिलता है, जो क्षत्रप वेश्यसि के अनुदान-अधीक्षक के रूप में काम करता था।³¹ यह सैनिक अधिकारी शासक परिवार का सदस्य था, क्योंकि इसे 'कृपाणवशवर्धक'³² कहा गया है। इसके अतिरिक्त, मथुरा में प्राप्त एक कृपाणकालीन अभिलेख में महादंडनायक वालिन³³ का उल्लेख हुआ है। मथुरा के ही एक अभिलेख में एक और महादंडनायक का जिक्र है, जिसका बेटा हुविष्क के अधीन काम करता था।³⁴ मथुरा में ही प्राप्त तीसरे अभिलेख में, जो कनिष्क के राजत्वकाल के चौथे वर्ष का है, महादंडनायक हुम्मियक चन्वक का उल्लेख हुआ है, जिसके नाम पर एक बौद्ध विहार का नामकरण हुआ।³⁵ इनमें से कुछ उल्लेखों से ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये अधिकारी कभी-कभी असैनिक कार्य सँभालते थे, लेकिन विजित प्रदेशों के प्रशासन में उनके सैनिक कर्तव्य अधिक महत्वपूर्ण रहे होंगे। इस मत को स्वीकार करना कठिन है कि दंडनायक सामंत सरदार होता था, और वह राजा को सैनिक तथा असैनिक सहायता देता था।³⁶ सामंती व्यवस्था में सरदारों को उनकी सेवाओं के लिए अनुदान स्वरूप भूमि दी जाती थी, पर इसका कोई साक्ष्य कृपाण व्यवस्था में नहीं मिलता। यह मत इसलिए प्रस्तुत किया गया है क्योंकि विभिन्न विद्वान इस पद के साथ सैनिक, दंडाधिकारिक (मैजिस्ट्रियल) तथा न्यायिक दायित्वों का संबंध जोड़ते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि नए प्रदेशों पर आधिपत्य जमाने के समय शासन के विभिन्न कार्यों का कोई विशेष पृथक्करण नहीं हो पाया, और एक ही राजकीय अधिकारी ये सारे कार्य संपादित करता रहा। बहुत संभव है कि कालांतर से दंडनायक के सैनिक तथा कार्यकारी पक्ष पृष्ठभूमि में

चले गए हो और न्यायिक पक्ष मुख्य रूप से सामने आ गया हो। परवर्ती शब्द-कोषों में इसी कारण से दंडनायक का अर्थ दंडाधीश बताया गया है। इस प्रकार, जैसे हम नागरिक³⁷ शासन के क्षेत्र में राजा तथा महाराज, क्षत्रप तथा महाक्षत्रप के उल्लेख देखते हैं वैसे ही सैनिक क्षेत्र में दंडनायक और महादंडनायक के प्रसंग मिलते हैं। यह चीज उस काल में प्रचलित प्रशासनिक स्तरावली से सर्वथा मेल खानी है। राज यह कि मौर्य राज्याधिकारियों के विपरीत कृपाण अधिकारियों के पदनामों से उनके किसी क्षेत्र-विशेष या कार्य-विशेष से जुड़े होने का बोध नहीं होता बल्कि वे सभी तरह के काम करनेवाले एक ही प्रकार के वरिष्ठ और कनिष्ठ अधिकारियों की श्रेणी हैं। इन अधिकारियों को वेतन देने की प्रथा का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। ब्राह्मणों को खिलाने-पिलाने के लिए दिए गए नकद अनुदानों तथा सोने और तांबे के सिक्कों के व्यापक प्रयोग से प्रकट होता है कि उन्हें शायद नकद वेतन मिलता था। इसके अतिरिक्त, कृपाण अधिकारियों की संख्या कम होने के कारण उन्हें नकद वेतन देना कठिन भी नहीं रहा होगा।

जहां तक कृपाण शासन की क्षेत्रीय इकाइयों का संबंध है, समुद्रगुप्त के इलाहाबाद अभिलेख में उनके राज्य के विषय तथा भूमि का उल्लेख हुआ है।³⁸ भूमि के चलन की पुष्टि किसी समकालीन स्रोत से नहीं होती, और इसीलिए ऐसा माना जा सकता है कि यहां एक गुप्तकालीन तथ्य को ही कृपाण काल पर धटा दिया गया है, लेकिन 'विषय' के अस्तित्व का समर्थन तीसरी सदी के एक महायान ग्रंथ से होता है, जिसमें देवपुत्र की परिभाषा करते हुए 'विषयों' में शासन करनेवाले राजाओं का उल्लेख किया गया है।³⁹ मौर्योत्तर तथा गुप्तकाल के अभिलेखों में ऐसी इकाइयों का उल्लेख सामान्यतया भूमि-अनुदानों के प्रसंग में हुआ है, लेकिन कृपाण राजाओं द्वारा भूमि-अनुदान दिए जाने का कोई साक्ष्य अब तक नहीं मिल पाया है। कृपाण राज्य के शहरी क्षेत्रों के प्रशासन की भी हमें प्रायः कोई जानकारी नहीं है। पूर्वोत्तर भारत में कारीगरों और व्यापारियों के सघों (श्रेणियों) के अस्तित्व का साहित्यिक माध्यम तो प्रारंभिक पालि ग्रंथों और निरसदेह, मौर्योत्तर बौद्ध ग्रंथों में बूढ़ा जा सकता है, लेकिन इसका सबसे प्रारंभिक पुरालेखीय साक्ष्य कृपाणकाल में ही मिलता है। भीटा में प्राप्त चार कृपाणकालीन मुहरों में निगम⁴⁰ का उल्लेख हुआ है, और एक अभिलेख में चार श्रेणियों का जिक्र आया है, जिनमें से एक मथुरा के गेहूँ के आटे का व्यापार करनेवाले लोगों की थी।⁴¹ मथुरा की जिन दो श्रेणियों को ब्राह्मणों को खिलाने-पिलाने के लिए नकद अनुदान मिले, वे निश्चय ही अपने सदस्यों की देखरेख करने तथा शहर के कार्य-व्यापार की व्यवस्था करने की सामर्थ्य रखती थी। यद्यपि इस काल के अभिलेखों से पश्चिमी भारत और दक्कन के जितने सघों की जानकारी मिलती है, उसकी तुलना में उत्तर भारत के बहुत कम सघों की जानकारी मिलती है, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि इन सघों से निगम की

उन प्रवृत्तियों का सूत्रपात होता है जिन्होंने गुप्तकाल में वैशाली तथा उत्तर के अन्य नगरों में व्यापक महत्त्व प्राप्त कर लिया।

निस्सदेह सबसे छोटी क्षेत्रीय इकाई गांव था, जो ग्रामिक के अधीन होता था। जान पड़ता है, मथुरा क्षेत्र में ग्रामिक कृषाण शासनप्रणाली का अभिन्न अंग होता था। मथुरा में प्राप्त वासुदेव के राजत्व काल के एक जैन अभिलेख⁴² में ग्रामिक का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। मथुरा में ही प्राप्त एक अन्य जैन प्रतिमाभिलेख को भी, जिसमें एक स्थानीय ग्रामिक⁴³ की दो पीढ़ियों का जिक्र है, कृषाणकाल का ही मानना चाहिए। जाहिर है कि कृषाणों को यह ग्रामस्थान अपने पूर्ववर्ती शासकों से विरासत में मिली थी और उन्होंने आगे उसे कायम रखा, क्योंकि ग्रामिक का पद बिबिसार के काल से ही चला आ रहा था। ऐसे साक्ष्य भी मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि बिबिसार के राज्य में 80,000 ग्रामिक थे। जैसा कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से ज्ञात होता है, यह पद मौर्यकाल के दौरान कायम रहा। लेकिन नाम कायम रहा, इससे आवश्यक तौर पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्रामिक की हैसियत और उसके कार्य भी सदा एक से रहे होंगे। मौर्योत्तर काल का ग्रामिक किस हद तक पूर्व मौर्यकालीन ग्रामभोजक और मौर्यकालीन ग्रामिक के कर्तव्यों का निर्वाह करता रहा, इस सबध में हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते। लेकिन मनु की कृति में ग्रामिक के जो उल्लेख आए हैं, उनसे इस प्रदाधिकारी की स्थिति और कार्यों का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। शांति एवं सुव्यवस्था कायम रखना—जिसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वह दशाधिप (दस गांवों के प्रधान) से भी सहायता और निर्देश की याचना कर सकता था—तथा अन्न, पेय, ईंधन आदि के रूप में राजस्व वसूल करना उसके मुख्य कार्य थे⁴⁴ : और इस मामले में वह पूर्ववर्ती ग्रामप्रधान से भिन्न नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार, उसकी नियुक्ति की पद्धति में भी कोई अंतर नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि ग्रामभोजक की तरह ग्रामिक की नियुक्ति राजा ही करता था। लेकिन मनु के ग्रामप्रधान के पद में हमें दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। एक तो यह था कि अब गांव की सुरक्षा का दायित्व उस पर नहीं था, जबकि, लगता है, पूर्व मौर्यकाल में यह काम ग्रामभोजक के जिम्मे ही था और मौर्य काल में ग्रामिक और ग्रामीणजन संयुक्त रूप से यह जिम्मेदारी निभाते थे।⁴⁵ अब यह कार्य ग्रामीण क्षेत्रों में हर दो, तीन या पांच गांवों पर राजा द्वारा तैनात किया गया एक गुल्म या सैनिक दस्ते के जिम्मे दिया गया।⁴⁶ स्पष्ट है कि मौर्योत्तर काल के विदेशी विजेता पुराने ग्रामप्रधानों को सशस्त्र रहने देना निरापद नहीं मानते थे। दूसरे, अब ग्रामिक को वेतन में पूर्व मौर्यकाल की तरह ग्रामीण जनो से प्राप्त जुमाने की रकम नहीं दी जाती थी, और न मौर्य काल की तरह उसे नकद वेतन दिया जाता था। इसके बजाय अब उसे अनुदानस्वरूप जमीन का कोई टुकड़ा दे दिया जाता था।⁴⁷ वेतन देने की पहली दो प्रथाओं के कारण उसकी

शक्ति बढ़ नहीं सकती थी, पर तीसरी प्रथा के कारण उसकी अभिवृद्धि होने लगी। जब इस पद के वशानुगत रूप के साथ इसके पदाधिकारी को भूमिअनुदान मिलने लगा तो कुल मिलाकर ग्रामप्रधान के महत्त्व में और भी वृद्धि ही हुई, जैसा कि इस काल में ग्रामिक के लिए प्रयुक्त 'ग्रामस्य अधिपति'⁴⁸ (गाव का स्वामी) शब्द-समुच्चय से प्रकट होता है। हमें पदपाल⁴⁹ कहे जानेवाले एक और अधिकारी की भी जानकारी मिलती है, जो शायद गाव की सामूहिक परती जमीन का प्रधान रहा होगा।

मनु के आधार पर कहा जा सकता है कि कृषाणकाल के ग्रामिक का राजस्व सग्रह से सबध था, लेकिन इस काल के अन्य राजस्व अधिकारियों की हमें कोई जानकारी नहीं है। इसी तरह, हमें विभिन्न प्रकार के संपत्ति विषयक अधिकारों की भी जानकारी नहीं है। लेकिन इस काल में प्रचलित अनुदान की 'अक्षयनीवि' प्रणाली से हमें कृषाणों की राजस्व पद्धति का कुछ संकेत मिलता है। ह्रविष्क के मथुरा प्रस्तर-अभिलेख (वर्ष 28-106 ईस्वी?) में इस प्रणाली के अनुसार दो अनुदान—एक पुण्यशाला⁵⁰ तथा 500 पुराण⁵¹—दिए जाने का उल्लेख है; जिसका मतलब यह है कि ये दोनों अनुदान स्थायी तौर पर दिए गए थे। इस काल में महाराष्ट्र में भी इस प्रणाली के अनुसार नकद राशि के रूप में अनुदान दिए जाते थे। इसकी जानकारी हमें नहपान के काल के नासिक गुफा-अभिलेख⁵² से मिलती है। नहपान शक क्षत्रप था और अपने छत्रपत्व के आरंभिक दौर में शायद कनिष्क के अधीन था। पहली शताब्दी ई. पू. से हमें सातवाहन शासक द्वारा दिए गए भूमि अनुदानों के पुरालेखीय साक्ष्य मिलने लगते हैं, लेकिन उत्तर भारत के सदरभ में हमें ऐसे अनुदानों का कोई पुरालेखीय प्रमाण नहीं मिलता। संभव है कि उत्तर भारत में अक्षयनीवि अधिकार के अनुसार भूमि अनुदान देने का प्रचलन कृषाणों के अधीन आरंभ हुआ हो, परंतु अभी तक इसका कोई पुरालेखीय प्रमाण नहीं मिला है। कृषाण तथा सातवाहन शासकों द्वारा दिए गए अक्षयनीवि अनुदानों से पता चलता है कि देश में सिक्के का प्रचलन बड़े पैमाने पर था। उत्तर और दक्षिण दोनों क्षेत्रों में अक्षयनीवि प्रणाली के अनुसार दिए गए नकद अनुदान बतलाते हैं कि ईस्वी सन की प्रथम दो शताब्दियों के दौरान पश्चिम और उत्तर भारत में सिक्कों का व्यापक उपयोग होता था। साहूकारी के धंधे को धर्म का अनुमोदन प्राप्त था, क्योंकि धार्मिक संस्थाओं को अनुदान में मिली नकद राशि से जो व्याज प्राप्त होता था उससे वे अपना खर्च चलाते थे। साथ ही ताबे के बहुत सारे सिक्के कृषाण के समय में पाए जाते हैं; इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम ऐसा सोच सकते हैं कि राजस्व की वसूली बहुत हद तक नकद राशि के रूप में की जाती थी। मुद्रा पर आधारित अर्थव्यवस्था छोटे-छोटे सामंतों और सरदारों पर अपनी सत्ता कायम रखने में कृषाण राजाओं के लिए काफी सहायक हो सकती थी, किन्तु ऐसी अर्थव्यवस्था के

बावजूद अक्षयनीवि अनुदानों के चलन तथा सामंती सगठन के फलस्वरूप विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को गति मिलना अवश्यंभावी था ।

राजा को दैवी स्वरूप प्रदान करने से शायद, विकेंद्रीकरण की शक्तियों को किसी हद तक रोका जा सकता था । अधिकांश कृपाण शासक बौद्ध थे, फिर भी उन्होंने देवपुत्र की उपाधि धारण करके तथा मृत राजा की पूजा की प्रथा चलाकर अपने को देवता के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया । राजा का ऐसा दैवीकरण 'दीघनिकाय' में प्रतिपादित राजत्व की उत्पत्तिविषयक बौद्ध सिद्धांत से असंगत था और प्रारंभिक ब्राह्मणवादी सिद्धांतों के भी अनुरूप नहीं था । यद्यपि उत्तर वैदिककाल की अभिषेक विधियों में विभिन्न देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि वे राजा को अपने-अपने गुण प्रदान करें, लेकिन उनमें कहीं भी राजा को देवता नहीं कहा गया है । इसके विपरीत, वैदिक अभिषेक विधियों में राजा के पार्थिव माता-पिता का स्पष्ट उल्लेख है । लेकिन 'शतपथ ब्राह्मण' में राजा को प्रजापति का मानव रूप बतलाया गया है ।⁵³ ऐसी ही परिकल्पना 'अथर्ववेद' में भी मिलती है, जिसमें वैश्वानर परिधित को सभी मानव प्राणियों पर शासन करनेवाला राजा बतलाया गया है और उसे सभी मर्त्यजनों से उच्च स्थान पर स्थित देवता के रूप में रखा गया है,⁵⁴ लेकिन संहिता का यह अंश बाद में जोड़ा गया । जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि वैदिक काल में राजा का देवत्व कोई व्यापक रूप से मान्य नहीं था । परवर्ती काल में 'अथर्वशास्त्र' में राजा की सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिए धार्मिक हथकंडों का सहारा लिया गया है,⁵⁵ लेकिन राजा में देवत्व का आधान नहीं किया गया है । बौद्ध राजा अशोक देवानाप्रिय—देवताओं का प्रिय—कहलाने में गौरव का अनुभव करता था । इस उपाधि को उसके पौत्र दशरथ ने भी कायम रखा,⁵⁶ लेकिन मौर्योत्तर काल में इस उपाधि का प्रयोग समाप्त हो गया, और इसके स्थान पर एक अन्य उपाधि देवपुत्र का चलन हुआ । इस उपाधि का उल्लेख 21 ब्राह्मी ('ल्यूडर्स लिस्ट' के मुताबिक) और 3 खरोष्ठी (कोनो की सूची के अनुसार) अभिलेखों में हुआ है, और जान पड़ता है, कृपाण शासकों को यह उतनी ही प्रिय थी जितनी कि देवानाप्रिय उपाधि अशोक को । एक अन्य उपाधि 'देवव्रत' का उपयोग केवल पार्थियन राजा गोडोफरनीस ने किया ।

ऐसा लगता है कि जब कृपाण राजाओं ने देवपुत्र की उपाधि अपनाई, तो एक समकालीन महायानी बौद्ध ग्रंथ 'सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र' में इसका सैद्धांतिक औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया । इस बात की ओर सबसे पहले सिलवां लेवी ने ध्यान दिलाया ।⁵⁸ बौद्ध ग्रंथ में प्रश्न पूछा जाता है कि मनुष्य रूप में उत्पन्न राजा देव क्यों कहा जाता है और उसे देवपुत्र सजा से क्यों अभिहित किया जाता है ।⁵⁹ उत्तर में बतलाया जाता है कि मनुष्य रूप में उद्भूत होने के पूर्व वह देवों के बीच रहता था, और चूंकि जिन तत्वों से उसका निर्माण हुआ उन तत्वों में तैत्तिसौं देवताओं में से प्रत्येक ने योगदान किया, इसलिए वह देवपुत्र कहलाता है ।⁶⁰

मनुस्मृति⁶¹ तथा शर्मिपर्व में राजा की दैवी उत्पत्ति की जो इस प्रकार की व्याख्या की गई है, उसमें भी शायद कृपाणों का प्रभाव हो। सुवर्णप्रभासोत्तम सूत्र की तरह मनु ने राजा के लिए देवपुत्र शब्द का प्रयोग नहीं किया है, लेकिन वह कहता है कि उसमें आठ देवों के गुणों का समावेश है⁶² और राजा यदि बालक हो तो भी उसकी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य रूप में देवता है।⁶³ शर्मिपर्व में, जिसके अनेक श्लोक मनु के श्लोकों के समान हैं और जिसमें राजा की उत्पत्ति के संबंध में सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र के ढाँचे पर ही प्रश्न पूछा गया है, मूल राजा को ईश्वर का वंशज कहा गया है⁶⁴ में तीनों पृथ, जिनमें से एक बौद्ध परंपरा और दो ब्राह्मण परंपरा के हैं, राजा को ऐसा दैवी रूप प्रदान करते हैं जो पहले कभी नहीं किया गया था, और लगता है कि तीनों को प्रेरणा कृपाण कालीन स्थिति में मिली थी। किन्तु कृपाणों का देवपुत्र कहा जाना भारतीय परंपरा के अनुरूप नहीं था, और इसलिए अन्य समकालीन अथवा पुरवर्ती भारतीय राजाओं ने इसे ग्रहण नहीं किया।

एफ. डब्ल्यू. टॉमस का विचार है कि देवपुत्र कृपाण राजाओं की राजकीय तौर पर ग्रहण की गई उपाधि नहीं, बल्कि राजा द्वारा उनके नामों के साथ सम्मान के भाव से जोड़ा गया विशेषण था। इस विचार को य. एन. घोषाल ने भी स्वीकार किया है।⁶⁵ लेवी की मान्यताओं के आधार पर टॉमस ने यह दिखाया है कि देवपुत्रों का उल्लेख पूर्ववर्ती साहित्य में भी हुआ है और देवपुत्र देवताओं के एक वर्ग का नाम था।⁶⁶ लेकिन यदि पूर्ववर्ती साहित्य में इस शब्द का प्रयोग देवता का पुत्र या देवताओं का वर्ग के अर्थ में हुआ है, इसका मतलब यह नहीं जगाया जा सकता कि कृपाण राजा एक विशेष अर्थ में इसका प्रयोग कर ही नहीं सकते थे। सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र में देवपुत्र उपाधि का जो औचित्य सिद्ध किया गया है तथा सत्यव्यवस्था पर इसी काल के आसपास लिखे ग्रंथों में जिस तरह राजा की दैवी उत्पत्ति सम्मान का प्रयत्न किया गया है उससे ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसका प्रयोग कृपाण राजाओं के देवत्व पर जोर देने के लिए किया जाता था। टॉमस का कहना है कि कृपाण सिक्कों में महाराज और राजतिराज जैसी उपाधियाँ तो आई हैं, लेकिन देवपुत्र नहीं, और इसलिए यह कृपाणों की राजकीय उपाधि नहीं हो सकती। एलेन से परामर्श के आधार पर वह मानते हैं कि कजल कर कफस (द्वितीय फर्दफिसस) के एक सिक्के में कनिथम ने जिस एक शब्द को देवपुत्र प्रदा है, वह सत्य है।⁶⁷ अगर इस दलील को स्वीकार कर लिया जाए तब भी ध्यान देने की बात है कि स्थानाभाव के कारण सिक्के में सभी उपाधियाँ शामिल नहीं की जा सकती। शायद देवपुत्र को इतनी महत्वपूर्ण उपाधि नहीं माना जाता था कि महाराज और राजतिराज जैसी अधिकृत और प्रचलित उपाधियों को छोड़कर उसे स्थान दिया जाता। टॉमस की यह दलील भी है कि यहिह को छोड़कर और किसी

1. एफ. डब्ल्यू. टॉमस, 'The Deity of the King in Ancient India', *Journal of the Royal Asiatic Society*, 1908, p. 100.

भी राजवंश के राजाओं के लिए भारत में इस उपाधि का प्रयोग नहीं हुआ। किंतु इस तर्क से भी टामस की स्थापना का समर्थन नहीं होता। राजातिराज, पाहि, पाहानुपाहि आदि अन्य अनेक कुषाण उपाधियों का प्रयोग भी तो भारतीय राजाओं ने नहीं किया,⁶⁸ किंतु क्या इसी कारण से हम उन्हें कुषाणों की अराजकीय उपाधियां मान ले सकते हैं? टामस बतलाते हैं कि चीनी तुर्किस्तान से खरोष्ठी लिपि में भेजे गए सदेशों में राजा की उपाधियों के रूप में महनुअव और महरय शब्दों का तो प्रयोग हुआ है, लेकिन देवपुत्र का नहीं।⁶⁹ लेकिन इस दलील से भी उनकी स्थापना का समर्थन नहीं होता है, क्योंकि इन सदेशों के प्रारंभिक संबोधनों से भी सर्वाधिकतम अंशों में अन्य कुषाण उपाधियों—राजातिराज तथा पाहानुपाहि—का भी प्रयोग नहीं हुआ है। टामस की सारी दलील का आधार कुछ स्रोतों में देवपुत्र उपाधि के उल्लेख का अभाव है। पर उसके मुकाबले हमें ऐसे निश्चित साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनसे प्रकट होता है कि इस उपाधि का प्रयोग भारत में ही नहीं, मध्य एशिया में भी होता था, जहां के खरोष्ठी लिपि में लिखे खोलनी प्रलेखों में—विशेषकर कालनिर्देश के संदर्भ में—इस उपाधि के अनेक उल्लेख मिलते हैं।⁷⁰ कुषाण अभिलेखों में अन्य उपाधियों के साथ देवपुत्र का भी उल्लेख हुआ है, और इसलिए इस पर अन्य उपाधियों से भिन्न दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, हुविष्क के लिए इसका प्रयोग एक राज्याधिकारी ने किया है, जिसकी उपाधि या पदनाम बकनपति था और जो एक महादंड-नायक का पुत्र था।⁷¹ राज्याधिकारी तो स्वभावतः राजकीय उपाधियों के प्रयोग को ही प्राथमिकता देगा। फिर, प्रसिद्ध प्रयागप्रशस्ति में भी अन्य उपाधियों के साथ देवपुत्र का उल्लेख हुआ है और ध्यातव्य है कि इसका प्रारूप समुद्र गुप्त के लेख्य-रचयिता हरिषेण ने तैयार किया था। जिस उपाधि का आविष्कार प्रजा ने किया हो और जिसका प्रयोग भी प्रजा ही करती रही हो तथा जिसे कुषाण राजाओं ने राजकीय तौर पर स्वीकार न किया हो, ऐसी उपाधि का प्रयोग तो शायद वह नहीं ही करता। और अंत में तीसरी सदी के एक बौद्ध ग्रंथ में, जिसका 392 ईस्वी में चीनी में अनुवाद हुआ, भारत के राजा और यूची से राजा को भी 'स्वर्ग-पुत्र'⁷² कहा गया है, और तीसरी शताब्दी के ही एक चीनी स्रोत में भी यूची राजा को 'स्वर्ग-पुत्र'⁷³ कहा गया है। इन साक्ष्यों का खंडन करना स्वयं टामस को भी कठिन प्रतीत होता है,⁷⁴ और इनसे इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि देवपुत्र कुषाणों की राजकीय उपाधि थी। लेकिन टामस का यह विचार शायद सही है कि इस उपाधि का मूल चीनी नहीं था। विम कडफिसेस के एक सिक्के पर एक शब्द को कुछ लोग देवपुत्र पढ़ते हैं, लेकिन एलेन और टामस इससे सहमत नहीं हैं। यदि हम इनकी असहमति को उचित मानकर चले तो देखेंगे कि यह उपाधि केवल फनिष्क समूह के उन राजाओं के संदर्भ में ही प्रयुक्त हुई है जिन्होंने पहली शताब्दी

के उत्तरार्ध में पश्चिमोत्तर भारत से पार्थियनों को मार भगाया। पार्थियन राजाओं ने एक उपाधि अपनाई थी जिससे पता चलता है कि वे देवता को अपना पिता मानते थे। स्रोत चाहे सामी हो या यूनानी, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि पहली शताब्दी के पूर्वार्ध के दो पार्थियन राजाओं, द्वितीय फरैटिस तथा तृतीय फरैटिस ने, जो कुषाणों के ठीक पूर्ववर्ती शासक थे, यह उपाधि धारण की थी।⁷⁵ स्पष्ट है कि जब प्रारंभिक कुषाण राजाओं ने पार्थियो को जीता तब कनिष्क तथा उसके उत्तराधिकारियों ने पार्थियन उपाधियों तथा पार्थियन राज्य, दोनों को अपना लिया। समकालीन स्रोतों से स्पष्ट है कि कालांतर से इस उपाधि का प्रयोग महत्वपूर्ण राजनीतिक हथियार की तरह होने लगा।

कुषाणों ने मृत राजाओं की प्रतिमाएं रखने के लिए देवकुलों के निर्माण का आरम्भ किया। विम की विशाल प्रतिमा पर गुदे अभिलेख में देवकुल शब्द आया है,⁷⁶ और इसके अतिरिक्त हमें हुविष्क के राजत्वकाल में उसके पितामह के देवकुल के जीर्णोद्धार का भी उल्लेख मिलता है।⁷⁷ भास के प्रतिमानाटक के आधार पर कहा गया है कि देवकुल में मृत राजा के सम्मान में उसकी प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती थी,⁷⁸ और देवकुल का यह अर्थ सही भी जान पड़ता है। इसी स्रोत के आधार पर यह भी कहा गया है कि यह कोई पूजास्थल नहीं, बल्कि लौकिक प्रयोजनों में बनवाया गया मंदिर था,⁷⁹ क्योंकि नाटक में इस मंदिर की न अपनी कोई ध्वजा बतलाई गई है, न कोई दिव्य शस्त्रास्त्र और न अन्य अनेक प्रतीक उपादान जो साधारण मंदिर से जुड़े होते हैं।⁸⁰ इन उपादानों के अभाव से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितने कि परंपरागत मंदिर थे। नाटक में देवकुल का ब्राह्मण अभिरक्षक भरत को अपने पूर्वजों की प्रतिमाओं को नमस्कार नहीं करने देता है, पर उसकी दलील है कि क्षत्रिय राजाओं को देवता मानकर उनके आगे झुकना ब्राह्मण के लिए उचित नहीं है।⁸¹ उसका यह कथन ब्राह्मण वर्गगत पूर्वाग्रहों से प्रेरित है, और भरत के क्षत्रिय होने के कारण कोई अर्थ नहीं रखता। देवकुल शब्द का अर्थ स्पष्टतः 'देवताओं का घर' है। हुविष्क के मथुरा अभिलेख से प्रकट होता है कि राज्याधिकारी द्वारा उसके राजा के पितामह के भग्न देवकुल का जीर्णोद्धार पुण्यकार्य माना जाता था, और यह महाराज राजातिराज देवपुत्र हुविष्क की आयु और शक्ति की अभिवृद्धि के लिए संपादित किया गया था।⁸² राजा का भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण साधने का प्रचलित तरीका बुद्ध के स्मृति चिन्हों पर कोई स्तूप बनवा देना या ऐसा ही कोई अन्य पुण्यकार्य संपन्न करना था। मथुरा में भी राजा के पूर्वज के देवकुल का जीर्णोद्धार इसलिए किया गया कि राजा का भौतिक कल्याण हो। इसके अतिरिक्त, अभिलेख की अंतिम पंक्ति⁸³ से प्रतीत होता है कि दैनिक अतिथियों तथा उन ब्राह्मणों के लिए भी कुछ किया गया,⁸⁴ जो स्पष्ट ही इस देवकुल में पुरोहितों के रूप में सबद्ध

थे। राजपूताना के देवगढ़ों में ऐसे पुरोहितों के उदाहरण मिल सकते हैं।⁸⁵

कुषाणों ने देवकुल स्थापित करने की प्रथा कहां से ग्रहण की? एक अनुमान यह है कि यह प्रथा उन्होंने टाइबर तट पर रोमवासियों से ग्रहण की।⁸⁶ लेकिन मृत राजा की पूजा का चलन प्राचीन मेसोपोटामिया में था, और भिन्न में भी जहां फरावों की प्रतिमाओं को रखने के लिए समाधि-मंदिर बनवाए जाते थे। शायद रोमवासियों ने यह चीज अपने इन पूर्ववर्ती भिन्नी राजाओं से ही सीखी और बाद में या तो प्रत्यक्ष व्यापारिक संपर्क के फलस्वरूप या किसी अप्रत्यक्ष माध्यम से उनसे यह प्रथा कुषाणों ने ग्रहण की। भास को कौटिल्य का पूर्ववर्ती मानकर उसके आधार पर यह कहना गलत होगा कि यह प्रथा यहां पूर्व मौर्य काल में भी प्रचलित थी,⁸⁷ और कुषाण राजा ने उसे सिर्फ अपना लिया। सही स्थिति भिन्न जान पड़ती है। कौटिल्य ने 'देवपितृपूजा' का उल्लेख किया है,⁸⁸ लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि पूर्वजों की प्रतिमाओं की पूजा की जाती थी। इसके अतिरिक्त, कौटिल्य ने मृत राजाओं की पूजा का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। जाहिर है कि यह प्रथा भारत में कुषाण राजा आए, जिनकी कई प्रतिमाएं आज भी यहां उपलब्ध हैं। भास इसी काल के साहित्यकार जान पड़ते हैं और उनकी कृतियों में मात्र समकालीन स्थिति प्रतिबिम्बित हुई है। देवकुल स्थापित करने की प्रथा देवपुत्र उपाधि के अनुरूप थी, और ये दोनों बातें कुषाण राजाओं के दैवीकरण में सहायक सिद्ध हुईं। सिक्कों पर कुषाण राजाओं की जो अर्धप्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं, उनके चारों ओर दिव्य प्रभामंडल भी दिखलाया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुषाण राजाओं द्वारा देवपुत्र की उपाधि धारण किया जाना तथा देवकुल स्थापित किया जाना राजा को देवरूप देने की सुविचारित युक्ति थी। सोने के टुकड़ों पर द्वितीय कडफिसेस की जो प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं उनमें राजा का स्कंधदेश लपटों के आलोकमय प्रकाश से आवृत है और उसका ऊर्ध्वांश ऐसा प्रतीत होता है, मानो यूनानी देवताओं की तरह, वह बादलों को चीरकर निकल रहा हो। कनिष्क के स्वर्ण सिक्कों में कुछ पर प्रभामंडल दिखलाया गया है, किंतु हुविष्क के कुछ विशेष प्रकार के स्वर्ण सिक्कों में से तो प्रायः सभी पर वह देखने को मिलता है। उनमें राजा प्रभामंडल, लपटों तथा बादलों इन तीनों से सज्जित दिखलाया गया है। वासुदेव की प्रतिमा में सिर्फ उसके मस्तक के चारों ओर प्रभामंडल है।⁸⁹ हमें मालूम है कि प्रभामंडल विशेषरूप से कनिष्क और हुविष्क के सिक्कों पर अंकित देव-प्रतिमाओं में दिखलाया गया है।⁹⁰ इसलिए अपने दिव्य उद्भव का संकेत देने के लिए कुषाण राजाओं ने अपने सिक्कों पर अपनी प्रतिमाओं को प्रभामंडल, बादलों या लपटों से विभूषित रूप में अंकित करवाया।⁹¹

इंग्लैंड में ट्यूडर शासनकाल में निरंकुशता तथा केंद्रीकरण की प्रवृत्तियों के तर्कसंगत परिणाम के रूप में राजा के दैवी अधिकार के सिद्धांत का विकास हुआ।

उसके विपरीत यद्यपि मौर्य राज्य ने जनजीवन के प्रत्यक्ष क्षेत्र पर नियंत्रण रखने की चेष्टा की पर उसने राजसत्ता के दैवी मूल पर कही भी जोर नहीं दिया। लेकिन मौर्योत्तर काल में जब विकेंद्रीकरण की शक्तियाँ उभड़ीं तब दैवी अधिकार के सिद्धांत का प्रतिपादन बड़े जोरदार ढंग से किया गया। जहाँ कुषाण राजाओं की बड़ी-बड़ी आडंबरपूर्ण उपाधियाँ विकेंद्रीकरण की वास्तविकता का बोध कराती हैं, वहाँ दैवीकरण की युक्ति भी उनकी राजनीतिक दुर्बलता पर आदरण डालने तथा उसे दूर करने का प्रयत्न दिखाई पड़ती है। राजनिरक्षता को शक्ति प्रदान करने की दृष्टि से राजा के दैवी अधिकार के सिद्धांत में निहित सभावनाओं से इनकार नहीं किया जा सकता, परंतु उसे स्वीकार करने में ब्राह्मणों ने बड़ी तत्परता दिखाई और उसका उपयोग इस प्रकार किया जिससे ब्राह्मण समाजव्यवस्था का वैचारिक समर्थन हो।⁹²

कुषाण राजाओं का दैवीकरण उन्हें अपनी प्रजा की निष्ठा प्राप्त कराने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। राज्याधिकारियों तथा व्यक्तियों द्वारा दिए गए धार्मिक अनुदानों में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, तक्षशिला से प्राप्त एक खरोष्ठी अभिलेख में महाराज राजातिराज और देवपुत्र की उपाधियों से विभूषित किसी अनाम कुषाण सम्राट के स्वास्थ्य के लिए एक बैक्ट्रियाई द्वारा तक्षशिला के ही धर्मराजिका स्तूप में बुद्ध के स्मृतिचिह्न स्थापित किए जाने का उल्लेख है।⁹³ इसी प्रकार अफगानिस्तान में प्राप्त एक अन्य खरोष्ठी अभिलेख में महाराज राजातिराज हुविष्क के पुण्यार्जन के निमित्त शाक्य मुनि के स्मृति-चिह्न प्रतिष्ठित किए जाने का जिक्र मिलता है।⁹⁴ गैर सरकारी व्यक्तियों तथा राज्याधिकारियों द्वारा राजाओं के भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ के लिए अनुदान आदि देने की प्रथा की जड़ उत्तर भारत में कभी नहीं जम पाई, लेकिन पश्चिमोत्तर सीमाप्रदेश के परवर्ती कुषाण राजाओं के बीच इसका चलन कायम रहा। उदाहरणार्थ, रोटासिद्धवृद्धि नामक एक विहारस्वामी ने न केवल अपने कुटुंबियों के लाभ के लिए, वरन महाराज तोरमाण शाह जऊल की रानी, राजकुमारों तथा राजकुमारियों के कल्याण के लिए भी एक विहार बनवाया।⁹⁵

कुषाण राजाओं ने दैवी अधिकार का दावा करने के साथ-साथ यह बात भी स्पष्ट शब्दों में बताई कि वे किस धर्म के अनुयायी थे। कुषाण राजाओं के सिक्कों से साफ दिखता है कि वे किस धर्म को मानते थे। उदाहरण के लिए, कुषाण यवुग कुजल कस, जिसकी पहचान प्रथम कडफिसेस के रूप में की जाती है, अपने को ध्रुमधिदस⁹⁶ कहता है। कुषाणों के सिक्कों में यह उपाधि 'सचध्रुमठितस' के रूप में भी देखने को मिलती है। यह बुद्ध के धर्म में उनकी भक्ति का बोध कराता है। इसके अतिरिक्त उनके सिक्कों पर शिव प्रतिमा भी अंकित है⁹⁷ किंतु, बौद्ध या शैव धर्म में अपनी स्पष्ट आस्था के बावजूद कुषाणों ने कभी धार्मिक उत्पीड़न की नीति

नहीं अपनाई। इसके विपरीत, लगता है, वे अनेक यूनानी, ईरानी तथा भारतीय देवताओं की पूजा करते थे, क्योंकि हुविष्क के सिक्कों में इन सबकी प्रतिमाएं अंकित मिलती हैं।⁹⁸ कनिष्क तथा हुविष्क के राजत्वकाल में जैन धर्म के गृहस्थ तथा पुरोहित दोनों वर्गों के अनुयायियों द्वारा मथुरा में दिए गए जैन प्रतिमाओं के अनेक दानों से प्रकट होता है कि कृषाणों के अधीन यह नगर इस धर्म का विख्यात केंद्र था। इसी प्रकार, यज्ञप्रधान ब्राह्मण-धर्म के प्रति भी सहिष्णुता बरती जाती थी। एक अभिलेख में ऐसा उल्लेख मिलता है कि भारद्वाज गोत्र के किसी ब्राह्मण ने बारह रातों का सत्र पूरा कर लेने पर एक यूप (यज्ञस्तंभ) की स्थापना की।⁹⁹ स्पष्ट ही यह धार्मिक सहिष्णुता की नीति थी। किंतु चूंकि बौद्ध धर्म के प्रति कृषाणों ने विशेष झुकाव दिखाया, शायद इसीलिए जब उनके शासन की समाप्ति के आधी सदी बाद उत्तर भारत में उनका स्थान गुप्त राजवंश ने लिया तब प्रतिक्रिया स्वरूप यहा ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान बड़ी तेजी से हुआ।

कृषाण राज्य-व्यवस्था की इस रूप रेखा से, जो सामग्री के अभाव में सर्वांगपूर्ण नहीं बन पाई है, प्रकट होता है कि कृषाणों ने भारतीय राज्य-व्यवस्था में कतिपय नए तत्वों का समावेश किया। राजा के भौतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण के लिए अनुदान देने की प्रथा तथा प्रांतों में दोहरे शासक रखने के चलन और इसी तरह की कुछ और भी नई प्रवृत्तियों के लिए भारत की भित्री अनुकूल नहीं सिद्ध हुई। किंतु राजा के देवत्व की परिकल्पना ने परवर्ती शासकों पर अपना प्रभाव अवश्य छोड़ा, क्योंकि हम देखते हैं कि समुद्रगुप्त की तुलना चार विभिन्न देवताओं से की गई है। इसके अतिरिक्त, महादंडनायक का पद तथा अक्षयनीवि अधिकार के अनुसार भूमि अनुदान देना, ये दोनों चीजें गुप्त राज्यव्यवस्था के अभिन्न अंग बन गईं। गुप्त साम्राज्य के पूर्वी, दक्षिणी तथा उत्तरी प्रांतों में हम महादंडनायकों को शासनतंत्र के संचालन में महत्वपूर्ण योग देते देखते हैं¹⁰⁰। सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि जान पड़ता है, कृषाण राजनीतिक ढांचे की मुख्य विशेषता, अर्थात् श्रेणिवद्ध सामंती व्यवस्था, को समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य संगठन के एक स्तंभ के रूप में अपना लिया। जहां तक शेष बातों का संबंध है, कृषाणों ने ग्रामिक के माध्यम से गांव का प्रशासन चलाने की पुरानी पद्धति कायम रखी, और अंतर शायद सिर्फ इतना किया कि अब इस अधिकारी को अपनी सेबाओं के प्रतिफल के रूप में कुछ जमीन अनुदान में दे दी जाती थी और वह गांव की रक्षा के दायित्व से भी मुक्त हो गया था। शायद उन्होंने कारीगरों और व्यापारियों के संघों को बढ़ावा दिया, जो परवर्ती काल में काफी शक्तिशाली बन गए।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

- 1 से इ, II, स 51, पंक्ति, 2, तुल्य पृ 124
- 2 बही, II, स 29, पंक्ति 1
- 3 बही, II, स 23, पंक्ति 1
- 4 L 1
- 5 कां इ इ, II, भाग I, पृ xxix
- 6 बही
- 7 बही, पृ xxvi-ii
- 8 स एच जैकोबी, जि डि मो जे, 1880, खलोक 62, 'साहि' प्राकृत रूप है
- 9 रायचौधरी, पां हि ए इ, पाचवा संस्करण, पृ 518, घोषाल, द मौप्राज ऐंड सातवाहनाज, पृ 344
- 10 ल्यूडस लिस्ट न 21, 69 ए, 72, 149 ए, 161, से इ, II, स 49, पंक्ति 10
- 11 कै क्वा इ म्यू, 1, 69, 75-79, 84
- 12 कां इ इ, II, भाग I, पृ 1 iii
- 13 जि इ मो जि, 1880, पृ 262, पंक्तिया 33-36
- 14 बही, पृ 267 और अन्वय
- 15 कां इ इ, II, भाग, I, पृ 1 XXII में उद्धृत
- 16 से इ, II, स 31, पंक्ति 1
- 17 बही
- 18 बही, II, स 51, पंक्तिया 1-2
- 19 बही, II, स 37, पंक्तिया 1-10
- 20 बही, पा टि 4
- 21 बही, II, स 38, पंक्तिया 1-2
- 22 एस के चट्टोपाध्याय, अर्ली हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृ 84
- 23 से इ, II, स 36, पंक्ति 2
- 24 बी एन पुरी, 'प्रोविंसियल ऐंड लोकल एडमिनिस्ट्रेशन इन दि कुषाण पीरियड', प्रो इ हि का, 1945, पृ 64
- 25 से इ, II, स 43, पंक्तिया 2-4
- 26 हेरोडोटस, दि हिस्ट्रीज (पेंथिन) पृ 214-15
- 27 ए इ, XXIV, पृ 10
- 28 'भारत' के लिए प्रयुक्त रामस्वामी पदनाम की एक सम्भावित व्याख्या यह भी हो सकती है कि उसके महाराज ने उसकी सेवा के प्रतिदानस्वरूप उसे राम अनुदान दिए थे। लेकिन इस व्याख्या के समर्थन में और कोई साक्ष्य हम उपलब्ध नहीं है
- 29 ए इ, XXIV, पृ 10
- 30 उपशिक्षु, पृ 233
- 31 का इ इ, II, भाग 1, स 76, पंक्ति 2-3 दहनायक और महादहनायक शब्दों की विभिन्न व्याख्याओं के लिए देखिए, घोषाल इंडियन हिस्टोरियोग्राफी एन्ड अदर एसेज पृ 177-79 घोषाल, का यह निष्कर्ष सही लगता है कि महादहनायक का अर्थ सेनापति है, बही पृ 179

- 32 काँ इ इ , II, भाग I, स 76, पक्ति 2
- 33 ल्यूडर्स लिस्ट, स 60
- 34 ज ए सो , 1924, पृ 402, पक्ति 5
- 35 के डी बाजपेयी, प्रीसि इ हि का , 1958, पृ 68, पक्ति 2
- 36 बी एन पुरी, इंडिया अंडर दि कृषालाज, पृ 84
- 37 बशर्ते कि इस काल के सदर्थ में शासनिक क्षेत्रों के पृथक्करण का बोध करनेवाली ऐसी अभिव्यक्ति का प्रयोग अनुचित न हो
- 38 पक्तिया 23-24
- 39 ज ए 1934 पृ 3
- 40 आ.म नि 1911 12 पृ 56
- 41 से इ , खड II, स 49, पक्तिया 12-13
- 42 ल्यूडर्स लिस्ट स 69 ए
- 43 वही, स 48
- 44 मनु , VII, 116-18
- 45 अलतेकर, स्टेट एंड गवर्नमेंट इन एशिएट इंडिया, पृ 226, अध , 111-10
- 46 मनु VII, 114
- 47 वही, VII, 119
- 48 वही, VII, 115 16
- 49 बी एन पुरी, इंडिया अंडर दि कृषालाज, पृ 84
- 50 से इ , II, स 49, पक्तिया 1-3
- 51 वही, पक्तिया 11-12
- 52 वही, II, स 58, पक्ति 1
- 53 V 15, 14
- 54 XX, 127 7-10
- 55 उपरिबत्, पृ 192-98
- 56 ल्यूडर्स लिस्ट, स, 954-56
- 57 से इ , II, स 29, पक्ति 1
- 58 ज ए , 1934, प 1 आदि
- 59 कथ मनुष्यसभूती राजा देवस्तुप्रोच्यते, केन च हेतुना राजा देवपुत्रस्तु प्रोच्यते । बी सी लॉ वाल्यूम, ii, 313, में एफ डब्ल्यू टॉमस द्वारा उद्धृत
- 60 देवेन्द्रानाम् अधिष्ठाने मातु कक्षौ प्रवेक्ष्यति । पूर्वं अधिष्ठिते देवे पश्चाद्गर्भे प्रपद्यते । फि चापि भानुपे लोके जायते श्रीयते नृप , अपि वै देवसभूती देवपुत्र स उच्यते । त्रयस्त्रिंशद्देवराजेन्द्रैर्भागीदत्तो नृपस्य हि, पुत्रस्त्व सहदेवाना निर्मितो मनुजेश्वर । ज ए , 1934, प 3-4
61. मनुस्मृति का रचनाकाल सामान्यतः 200 ई पू से 200 ई के बीच माना जाता है । राजधर्मका विवेचन करनेवाले प्रकारणो का संग्रह शायद ईस्वी सन की प्रथम दो सदियों के दौरान हुआ ।
- 62 VII. 7.
63. VII 8
64. अध्याय 59.
- 65 दि मौर्याज ऐंड सातवाहनाज, पृ. 345.
66. बी सी. लॉ. वाल्यूम, ii, 306-10

- 67 वही, 307
- 68 वही, 319
- 69 'साही' अथवा शाही' उपरिधि पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की कुछ जमींदार जातियों में प्रचलित है। सम्भवत यह पुराने समय से चली आ रही है।
- 70 वही, 308
- 71 का इ इ, II भाग I, पृ XXIV दुर्भाग्यवशा, मुझे अनिष्क और वामुदेव के उन सिक्कों की विषयवस्तु की कोई जानकारी नहीं है जो कभी मध्य एशिया में मिले हैं
- 72 ज रॉ ए सो, 1924, पृ 402-3.
- 73 बी सी सी वाल्यूम, II, 314-15
- 74 वही, 318
- 75 वही, 319
- 76 वही, 305
- 77 डी आर साहनी, ज रॉ ए सो, 1924, पृ 402
- 78 वही, पृ 402-3
- 79 जायसवाल, ज बि ओ रि सो, 1923, पृ 98-99, एच पी शास्त्री, वही, पृ 558-61
- 80 जायसवाल, ज बि ओ रि सो, 1919, पृ 98-99
- 81 वही
- 82 वही, पृ 960
- 83 ज रॉ ए सो, 1924, पृ 402, अभिलेख की पंक्तिया 2-5
- 84 वही, पंक्ति 61
- 85 वही, पृ 403
- 86 ज बि ओ रि सो, 1919, पृ 559
- 87 पां हि ए इ, पंचम संस्करण, पृ 5
- 88 ज बि ओ रि सो, 1919, पृ 560
- 89 पां हि ए इ, पंचम संस्करण, पृ 517, पा टि 3
- 90 एम ई ड्रइन, 'दि निक्स ऐंड साइस ऑफ़ डिफिकेशन आन डि क्वाइस, ऑफ़ डि इंडो-शिपियन किंगडम, रिज्यू न्यूमिस्मेटिक, 1901, पृ 154-66, अनु इ ए, 1903, पृ 427
- 91 इ ए, 1903, पृ 428
- 92 वही, 432
- 93 राजा के दैवी रूप के संबंध में धर्मशास्त्रों में जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनकी वर्तमान व्याख्याओं को अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन पार्लिामेंटल आइडियाज' (पृ 566-67 पा टि 20) में साररूप में प्रस्तुत करके घोषाल ने उनका विवेचन किया है
94. से इ, II ख 34, पंक्ति 3
95. वही, II स 55, पंक्ति 3
- 96 ल्यूडवैग लिस्ट, स 5
97. से इ, II, स 19 पंक्ति 1
- 98 वही, पृ 125, पा टि 3, पृ 155
- 99 वही, पृ 155, पा टि 5
- 100 ल्यूडवैग लिस्ट, स 149 ए
- 101 घोषाल, 'इंडियन हिस्टोरियोग्राफी ऐंड अदर एसेज', पृ 178.